।। श्रीः ।।

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

८२

महाकविश्रीमदश्वघोषविरचितं

बुद्धचरितम्

'प्रकाश'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(प्रथमो भागः)

व्याख्याकारः

महन्त श्रीरामचन्द्रदासशास्त्री

व्याकरणाचार्य-काव्यतीर्थ

अध्यक्ष, संस्कृत विश्वपरिषद्, जबलपुर (मध्य प्रदेश)

चौखम्भा विद्याभवन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥
विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
८२

महाकवि श्रीमदश्वघोषविरचितं

बुद्धचरितम्

'प्र..श' हिन्दीव्याख[illegible]म

(प्रथमो भागः)

(जन्म से बुद्धत्व-प्राप्तिपर्यन्त)

व्याख्याकार
व्याकरणाचार्य-काव्यतीर्थ
महन्त श्री रामचन्द्रदास शास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत विश्व-परिषद्-शाखा, जबलपुर (मध्यप्रदेश)

प्रकाशक :
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, वाराणसी-२२१००१

प्राक्कथन

संसार परिवर्तनशील है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। सामान्य परिवर्तन प्रकृति ही करती रहती है। देश और कालरूप अधिष्ठान में 'अग्नि, जल एवं वायु'—ये तीनों वस्तु को बदलते रहते हैं, अग्नि गरमी देती है, जल तर्पण करता है, वायु स्फुरण देती है। इससे वस्तु की उत्पत्ति होती है। फिर अग्नि जलाती है, जल सड़ाता है और वायु शोषण करती है। इससे वस्तु का विनाश होता है। उत्पत्ति से विनाश तक की क्रियाओं में जो समय लगता है, वही स्थिति है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्र चल रहा है। यह चक्र कब से चला है? कब तक चलेगा? यह कहा नहीं जा सकता। यह अनादि है, अनन्त है।

इस सामान्य परिवर्तन की अपेक्षा एक विशेष परिवर्तन भी होता है। वह है—'आचार-विचार का परिवर्तन'। यह परिवर्तन प्रायः मनुष्यों में ही होता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा सर्वाधिक चेतन है। इनमें विचार की धारा प्रवाहित होती रहती है। संसार के सम्बन्ध में यह विचार करता है। विचार अनेक प्रकार के होते हैं। संसार क्या है? कब से बना है? किस लिये बना है? इसका रचयिता कोई है अथवा यह अपने आप बनता है? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते हैं। इनका समाधान सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता। दुरूह विषय होने के कारण बुद्धि थक जाती है। विचार रुक जाता है। अगत्या मनुष्य भोगाभिमुख हो जाता है। इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति बहिर्मुख है। उच्च विचारकों की प्रवृत्ति भी भोगाभिमुख हो जाती है। तब भोग को समर्थन मिल जाता है। आचार भी लुप्त हो जाते हैं। संसार भोग-प्रधान बन जाता है।

भोग में अनेक दोष हैं। अधिक से अधिक मिलने पर भी अपूर्ण ही बना रहता है। इसकी सीमा नहीं है। रोग, शोक आदि तो उसके तात्कालिक फल

हैं। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि दुर्बलों को सताये बिना भोग प्राप्त नहीं होता। जब संसार भोग-प्रधान होता है तब सबल मनुष्य दुर्बलों को सता कर अपना सुख सम्पादन करने लगते है। हिंसा, मिथ्या, छल, कपट और पाखण्ड का साम्राज्य हो जाता है। उस समय दुर्बलों का जीवन भय एवं आतङ्क से नरक-तुल्य हो जाता है। सबल भी सुखी नहीं रह पाते। उनमें काम-क्रोध की अधिकता से हिंसा की प्रधानता हो जाती है। क्रूरता, तृष्णा तथा अभिमान बढ़ जाते हैं। सहस्रों आशा-पाश में बँधकर उन्मार्गी हो जाते हैं। उस समय प्राणी की तो बात छोड़ें, समष्टि प्राण ही संकटापन्न हो जाते है। चारों ओर हाहाकार मच जाता है। त्राण पाने के लिये समष्टि अन्तःकरण दीन पुकार करने लगता है। तब महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता होती है। उसमें प्रकृति का वश नहीं चलता। ऐसे अवसर पर ही एक दिव्य पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। वे अपने अलौकिक प्रभाव से मनुष्यों के आचार-विचार में आमूल परिवर्तन करते हैं तब संसार सुख की साँस लेता है।

इतिहास साक्षी है। दो-ढाई हजार वर्ष के बाद ऐसे दिव्य पुरुषों का अविर्भाव होता रहता है। राम के बाद कृष्ण और कृष्ण के बाद बुद्ध हुए। ये लोक-विलक्षण पुरुष, ढाई-ढाई हजार वर्ष के अन्तर देकर एक के बाद एक होते आये हैं। ये दिव्य विभूतियाँ प्रकट होकर जब जैसी आवश्यकता पड़ती है, वैसा परिवर्तन करती हैं। तब हजारों वर्ष तक मानव-जीवन सुख और शान्ति का अनुभव करता है।

ऐसे ही संक्रामक काल में भगवान् बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ है। उस समय भी महान् परिवर्तन की अपेक्षा थी। लोग भोग-लोलुप, हिंसा-परायण एवं क्रूर-कर्मा हो गये थे। पशु की बात दूर रही, मनुष्य ही मनुष्य की बलि देता था। नर-बलि शास्त्र-विहित एवं राज-समर्थित हो गई थी। स्वर्ग-सुख की अन्ध-कल्पना से प्रेरित होकर बलपूर्वक सहस्रों असहाय नर कल्पित देवी-देवताओं के भोज्य बनाये जाते थे। कुछ नियमित सुन्दर युवा-नर-बलि देने पर स्वर्ग में इन्द्र बनने का विश्वास रूढ हो गया था। स्वर्ग-प्राप्ति का दूसरा साधन तप माना जाता था। कुछ लोग घर छोड़कर निर्जन वन में जाकर घोर तामसी तप करते

थे। अन्न-जल सर्वथा छोड़कर शरीर सुखा देते थे। अग्नि, जल, भृगुपात से शरीर त्याग कर सीधे स्वर्ग की प्राप्ति मानी जाती थी। लौकिक सुख अपूर्ण है, स्वर्गीय सुख ही पूर्ण है, जीवात्मा स्वर्ग में जाकर अक्षय भोग भोगता—इस प्रकार भोग की तीव्र लालसा की प्रबल प्रेरणा से लोग मिथ्याचार, मोघ विचार के हो गये थे। भगवान् बुद्ध ने तप और त्याग का तथा भोग का यथार्थ भेद बताया, तप और भोग की अपेक्षा मध्यम मार्ग श्रेष्ठ बताया, मनुष्य का सन्मार्ग में चल कर प्राणीमात्र का हित करना कर्त्तव्य बताया तथा 'सर्वजनसुखाय, सर्वजनहिताय' इस महामंत्र का उद्घोष किया।

जैसे भगवान् राम के चरित्रों एवं उपदेशों का महर्षि वाल्मीकि ने सुललित संगीतमय काव्य के द्वारा स्थायी प्रचार किया है अथवा जैसे भगवान् कृष्ण के चरित्रों तथा उपदेशों को महामुनि व्यास ने महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि दिव्य ग्रन्थों द्वारा विश्व-साहित्य के रूप में संपादित किया है, उसी प्रकार महाकवि अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के लोकोत्तर चरित्रों एवं उपदेशों का 'बुद्ध-चरित' नामक महाकाव्य में सम्पादन किया है। जैसे वायु चन्दन की सुगन्धि को दिशाओं में फैलाता है, उसी प्रकार अश्वघोष ने भगवान् का उज्ज्वल यश फैलाया है। काव्य-कला उनका सहज स्वभाव है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। अश्वघोष पुराण के महापंडित हैं। रामायण, महाभारत के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ एवं दर्शन के तत्त्ववेत्ता हैं। उन्होंने अपने महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के चरित्र का सजीव चित्र खींचा है। उनके प्रसादगुण प्रधान काव्य को पढ़ते ही पाठक के नेत्रों के सामने भगवान् बुद्ध का चरित्र साकार हो उठता है।

'बुद्धचरित' दो भागों में था। प्रथम भाग में जन्म से बुद्धत्व प्राप्ति तक का वर्णन है। इसमें चौदह सर्ग हैं। प्रथम भाग अश्वघोष कृत मूल सम्पूर्ण उपलब्ध है। केवल प्रथम सर्ग के प्रारम्भ ७ श्लोक और चतुर्दश सर्ग के ३२ से ११२ तक (८१ श्लोक) मूल में नहीं मिलते हैं। बाबू श्रीजयकृष्णदास जी गुप्त, अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी की प्रेरणा से उन श्लोकों को मैंने बनाया है तथा उन्हीं की प्रेरणा से इस भाग की टीका भी की गई है।

द्वितीय भाग की मूल प्रति भारत में बहुत दिनों से अनुपलब्ध है। उसका अनुवाद तिब्बती भाषा में मिला था। उसके आधार पर किसी चीनी विद्वान् ने चीनी भाषा में अनुवाद किया तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के अध्यापक डाक्टर जॉन्सटन ने उसे अंग्रेजी में लिखा। इसका अनुवाद श्री सूर्यनारायणजी चौधरी ने हिन्दी में किया है जिसको मैंने श्रीयुत् व्योहार राजेन्द्र सिंह जी की प्रेरणा से संस्कृत पद्यमय काव्य रूप में परिणत किया है। अश्वघोष प्रतिभावान् महाकवि थे। उनके समान रस तो इसमें नहीं आया है; किन्तु उनका भाव यथासंभव लाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो पाठकगण ही समझेंगे।

श्री हृषीकेश जी पांडे का मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ जिन्होंने सुवाच्य अक्षरों में इसे लिपिबद्ध करके प्रेस में छपने योग्य किया।

—रामचन्द्र दास

थे। अन्न-जल सर्वथा छोड़कर शरीर सुखा देते थे। अग्नि, जल, भृगुपात से शरीर त्याग कर सीधे स्वर्ग की प्राप्ति मानी जाती थी। लौकिक सुख अपूर्ण है, स्वर्गीय सुख ही पूर्ण है, जीवात्मा स्वर्ग में जाकर अक्षय भोग भोगता—इस प्रकार भोग की तीव्र लालसा की प्रबल प्रेरणा से लोग मिथ्याचार, मोघ विचार के हो गये थे। भगवान् बुद्ध ने तप और त्याग का तथा भोग का यथार्थ भेद बताया, तप और भोग की अपेक्षा मध्यम मार्ग श्रेष्ठ बताया, मनुष्य का सन्मार्ग में चल कर प्राणीमात्र का हित करना कर्त्तव्य बताया तथा 'सर्वजनसुखाय, सर्वजनहिताय' इस महामंत्र का उद्घोष किया।

जैसे भगवान् राम के चरित्रों एवं उपदेशों का महर्षि वाल्मीकि ने सुललित संगीतमय काव्य के द्वारा स्थायी प्रचार किया है अथवा जैसे भगवान् कृष्ण के चरित्रों तथा उपदेशों को महामुनि व्यास ने महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि दिव्य ग्रन्थों द्वारा विश्व-साहित्य के रूप में संपादित किया है, उसी प्रकार महाकवि अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के लोकोत्तर चरित्रों एवं उपदेशों का 'बुद्ध-चरित' नामक महाकाव्य में सम्पादन किया है। जैसे वायु चन्दन की सुगन्धि को दिशाओं में फैलाता है, उसी प्रकार अश्वघोष ने भगवान् का उज्ज्वल यश फैलाया है। काव्य-कला उनका सहज स्वभाव है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। अश्वघोष पुराण के महापंडित हैं। रामायण, महाभारत के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ एवं दर्शन के तत्त्ववेत्ता हैं। उन्होंने अपने महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के चरित्र का सजीव चित्र खींचा है। उनके प्रसादगुण प्रधान काव्य को पढ़ते ही पाठक के नेत्रों के सामने भगवान् बुद्ध का चरित्र साकार हो उठता है।

'बुद्धचरित' दो भागों में था। प्रथम भाग में जन्म से बुद्धत्व प्राप्ति तक का वर्णन है। इसमें चौदह सर्ग हैं। प्रथम भाग अश्वघोष कृत मूल सम्पूर्ण उपलब्ध है। केवल प्रथम सर्ग के प्रारम्भ ७ श्लोक और चतुर्दश सर्ग के ३२ से ११२ तक (८१ श्लोक) मूल में नहीं मिलते हैं। बाबू श्रीजयकृष्णदास जी गुप्त, अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी की प्रेरणा से उन श्लोकों को मैंने बनाया है तथा उन्हीं की प्रेरणा से इस भाग की टीका भी की गई है।

द्वितीय भाग की मूल प्रति भारत में बहुत दिनों से अनुपलब्ध है। उसका अनुवाद तिब्बती भाषा में मिला था। उसके आधार पर किसी चीनी विद्वान् ने चीनी भाषा में अनुवाद किया तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के अध्यापक डाक्टर जॉन्सटन ने उसे अंग्रेजी में लिखा। इसका अनुवाद श्री सूर्यनारायणजी चौधरी ने हिन्दी में किया है जिसको मैंने श्रीयुत् ब्योहार राजेन्द्र सिंह जी की प्रेरणा से संस्कृत पद्यमय काव्य रूप में परिणत किया है। अश्वघोष प्रतिभावान् महाकवि थे। उनके समान रस तो इसमें नहीं आया है किन्तु उनका भाव यथासंभव लाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो पाठकगण ही समझेंगे।

श्री हृषीकेश जी पांडे का मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ जिन्होंने सुवाच्य अक्षरों में इसे लिपिबद्ध करके प्रेस में छपने योग्य किया।

—रामचन्द्र दास

भूमिका

भगवान बुद्ध का संदेश

भगवान् बुद्ध का जन्म ५६७ ईसापूर्व अर्थात् आज से २५०० वर्ष पूर्व हुआ था। इतने दिनों बाद आज कहीं संसार उनके उपदेशों का महत्त्व समझ रहा है। वैसे तो सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक बार बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया था। किन्तु एक समय आया कि जब उसी भारतवर्ष में बौद्धों का नाम-निशान भी नहीं रहा। इसके कई कारण बतलाये जाते हैं। बौद्धों द्वारा वेदों की प्रामाणिकता को अमान्य करना, ब्रह्मवाद या ईश्वरवाद को न मानना तथा वर्णभेद का विरोध करना आदि इनके मुख्य कारण माने जाते हैं। किन्तु असली कारण स्वयं बौद्धों के बीच उत्पन्न हुए मतभेद और अनाचार ही समझना चाहिये।

भारत में वेदों के प्रति इतना आदर रहा है कि उनके प्रति किसी प्रकार का निरादर यहाँ की जनता सहन नहीं कर सकी। वेदप्रमाण हमारे धर्म का मूलाधार रहा है। उनके अर्थ के सम्बन्ध में चाहे कितना ही मतभेद क्यों न रहा हो; किन्तु उसकी प्रामाणिकता और अपौरुषेयता के सम्बन्ध में सभी में एकमत रहा है। वेदों के आधार पर कर्मकाण्ड का प्रचार तथा उसमें भी हिंसा आदि का प्रयोग होना उपनिषदकाल से ही बुद्धिवादियों को खटक रहा था। वे लोग कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड के उपासक होते जा रहे थे और यह आवाज उठने लगी थी कि इस प्रकार के यज्ञादि अब जर्जर नावके समान हो गये हैं—'प्लवा ह्येता अदृढा यज्ञरूपाः।

लोगों में यह भावना उठने लगी थी कि यज्ञों में प्राप्त होने वाले पार्थिव भोगों, यहाँ तक कि स्वर्ग आदि भोगों से भी आत्मायें तृप्त नहीं हो सकती। कठोपनिषद् के यम और नचिकेता के संवाद में इसी भावना का उद्घोष हमें मिलता है। नचिकेता कहता है कि इस धन-सम्पत्ति और सांसारिक भोग पदार्थों से मेरी आत्मा नहीं शान्त होने की। यह सब असार हैं। मुझे ऐसा पदार्थ चाहिये जिससे मुझे अमृत की प्राप्ति हो सके।

इसी प्रकार मैत्रेयी भी याज्ञवल्क्य से कह उठती है कि जिनसे मैं अमर नहीं हो सकती उन पदार्थों को लेकर क्या करूँगी:—

'येनाहं नामृता स्या किमहं तेन कुर्याम् ।'

वैसे तो प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो भावनाएँ मनुष्य के हृदय में सदा से रही हैं। एक में भोग और ऐश्वर्य की लालसा और दूसरी में सुख और शान्ति की अभिलाषा का स्वर प्रधान रहा है। उनके अनुसार पहले में यज्ञ-याग आदि के द्वारा देवता से सुख-सामग्री की याचना और दूसरे में आत्मतृप्ति और आत्म-त्याग व तपस्या की साधना—यही दो मार्ग की प्रवृत्ति के अनुरूप बढ़ते-घटते चले आये हैं। वेदों में पहला मार्ग और उपनिषदों में दूसरी भावना प्रधान रही। उनकी अपेक्षा गीता में वेदों के प्रति असन्तोष का स्वर और भी प्रबल हो उठा। उसमें त्रिगुणात्मक वेदों से ऊपर उठने का आग्रह किया गया है :—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

उनके साधन रूप यज्ञों की स्पष्ट निन्दा तो उसमें नहीं की गई किन्तु उनका रूप बदल दिया गया है। यज्ञ के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भी उसमें द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को महत्व दिया गया है, और दान, तप, स्वाध्याय आदि अनेकों आत्मशुद्धिकारक कर्मों की प्रशंसा की गई है।

इस निवृत्ति मार्ग में भी अनेक दोष उत्पन्न हो गये। कर्म की अपेक्षा संन्यास को महत्व देने के कारण गृहस्थ-धर्म का एक प्रकार से उच्छेद-सा हो गया। बौद्धधर्म का भी इसमें बहुत बड़ा हाथ रहा। इसलिये उसके प्रति भी लोगों के मन में अनादर होना स्वाभाविक था। गृहस्थ-धर्म के शिथिल होने से समाज में अनाचार और व्यभिचार होना स्वाभाविक था। यह भी बौद्धधर्म के पतन का एक कारण था।

दूसरा कारण ब्रह्मवाद या ईश्वरवाद का विरोध करना था। ईश्वर भावना आर्य जाति के हृदय में इतनी प्रबल थी कि उसका विरोध किसी प्रकार सहन नहीं किया जा सकता था। जैन आदि मतों ने प्रारम्भिक काल में उसका विरोध अवश्य किया किन्तु बाद में उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा। बुद्ध भगवान् ने आत्मवाद के सम्बन्ध में एक प्रकार से उदासीनता और तटस्थता

का ही मार्ग स्वीकार किया था। कथा है कि बच्चगोत नामक भिक्षु ने भगवान् बुद्ध से पूछा—आत्मा के अस्तित्व के विषय में आपकी क्या राय है ? इसके उत्तर में भगवान् बुद्ध मौन रहे। फिर भिक्षु ने पूछा—तो क्या आत्मा नहीं हैं ? इसके उत्तर में भी बुद्ध मौन रहे। उसके बाद भी भिक्षु ने प्रश्नोत्तर न पाकर प्रस्थान किया। तब भगवान् के परम शिष्य आनन्द ने उनसे पूछा—भगवान् ने बच्चगोत के प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दिया ? भगवान् बुद्ध ने कहा—यदि मैं आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता तो मैं श्रमणों और ब्राह्मणों में प्रचलित आत्मा के समर्थन करता और यदि मैं उनसे इनकार करता तो भी उनके निर्वाण के सिद्धान्त का समर्थन करता। इसलिये मैंने आत्मा के विषय में चुप रहना ही ठीक समझा। कुछ भी उत्तर देने पर उसे एक प्रश्न से निकालकर दूसरे भ्रम में डालने के समान ही होता।

बात असल यह थी कि ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध में इतना अधिक विवेचन हो चुका था कि बुद्ध ने उस सम्बन्ध में ऊहापोह करना निरर्थक समझा। उनका लक्ष्य शान्ति और आनन्द प्राप्त करना ही था। अश्वघोष ने तो उनसे कहलाया है कि मैं अमृत प्राप्ति के लिये घर से जा रहा हूँ :—

अमृतं प्राप्तुमितोऽद्य मे यियासा।

भगवान् बुद्ध आत्मा और परमात्मा के विषय में पूछे जाने पर जो चुप्पी धारण कर लिया करते थे इसके सम्बन्ध में लोग अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वे आत्मा के अस्तित्व को ही मानते थे और कुछ कहते हैं कि उन्होंने आत्मिक विषयों के सम्बन्ध में कुछ न कहकर केवल क्रियात्मक बातों पर ही जोर दिया। कुछ लोगों का कथन है कि आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में इतने मतमतान्तर उत्पन्न हो गये थे कि उन्होंने अपनी ओर से कुछ कह कर उन मतों में एक नया मत जोड़ना ठीक नहीं समझा।

असल में आत्मा के विषय में कुछ न कहना ही उसके अस्तित्व को स्वीकार करना है। जिस बात को स्वीकार करना होता, उस सम्बन्ध में वे मौन रह जाते थे। इसका उल्लेख बौद्ध जातकों में बराबर आता है। आत्मा के सम्बन्ध में उपनिषदों में भी नेति कहकर यह स्वीकार किया है कि वह

अनिर्वचनीय है। अतः उसके सम्बन्ध में कुछ न कहना ही सबसे अच्छा उपाय है। उपनिषद् में एक जगह कहा है :—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

इस प्रकार परस्पर विरोधी विशेषणों के द्वारा ही आत्मा का निर्देश किया जा सकता है।

अपने शिष्यों से उन्होंने बार-बार कहा था—'भिक्षुओ ! तथागत के लिये दो बातें सदा बिना कही रह जायेंगी—'आत्मा और अनात्मा।' असल में उनका सारा लक्ष्य इसी बात पर था कि संसार में दुःख की निवृत्ति किस तरह की जावे। अतः आत्मा अनात्मा के तात्विक विवेचन में पड़कर सीधे दुःख की मूल समस्या को ही वे सुलझाना चाहते थे।

दुःख को उन्होंने चार विभागों में बाँट दिया है :—

(१) दुःख (२) दुःख की उत्पत्ति
(३) दुःख निवृत्ति (४) दुःख-निवृत्ति के उपाय

दुःख दुक्ख समुप्पादं दुःखस्य च अतिक्कमं।
अरियं चऽट्ठंगिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनम्॥

दुःख कितने प्रकार के हैं इसका भी विस्तार दिया गया है.........जन्म, जरा, मरण, शोक-परिदेव, दौर्मनस्य, दुक्ख, उषापात, अप्रिय के साथ संयोग प्रिय से वियोग, इच्छित वस्तु का अलाभ और अनिच्छित वस्तु का लाभ—ये सब दुःख हैं।

गीता में एक ही पंक्ति में कह दिया गया है :—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।

बुद्ध भगवान् के जीवन में ये सब दुःख मानों रूप धारण कर आये थे। बुद्धचरित में वर्णन है कि देवों ने उनको रचकर सामने खड़ा कर दिया। जब वे नगरपरिक्रमा के लिये निकले तब पहले व्याधित पुरुष सामने आया, फिर वृद्ध और अन्त में मृत पुरुष। जब साधु ने यह बताया कि ये दशायें सभी की होती हैं आपको भी होगी—तब बुद्ध को चिन्ता हुई कि उनसे किस प्रकार छुटकारा पाया जावे।

अश्वघोष ने इन अवस्थाओं का बड़ा सजीव वर्णन किया है—एषो हि देव-पुरुषो जरयाभिभूतो...।। आदि।

खोज करते हुए उन्होंने पाया कि तृष्णा ही सब दुःखों का कारण है। इसलिये तृष्णा की जड़ खोदने का उपदेश दिया :—

तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेऽत्र समागता।
तण्हाय मूलं खनथ उसीरत्त्यो व वीरणम् ।। (धम्मपदं २४–४)

वेदान्त ने भी वासनाबीज को दग्ध करने का उपदेश दिया है :—

निर्दग्धवासनाबीजं सत्तासामान्यरूपवान्।
संदसेवावियेतो न भूयो दुःखभाग्भवेत् ।।

(योगवासिष्ठ–६–१०–१२)

भगवान् बुद्ध का यही आग्रह रहा है कि हम व्याधि की चिकित्सा करें, यह जानने का प्रयत्न न करें कि वह कहाँ से आई, कैसे आई। इसे समझाने के लिये उन्होंने घायल आदमी का उदाहरण देते हुए कहा—'यदि किसी को विष-बुझा तीर लगे और वह कहे कि मैं तीर तब तक न निकलवाऊँगा जब तक यह न मालूम हो जावे कि वह कहाँ से आया है, किसने मारा है, उसका गोत्र या नाम क्या है, वह कितना लंबा है आदि, तो भिक्षुओ! उस आदमी को यह पता नहीं लगेगा और वह मर जावेगा।'

वे अन्य बातों पर विचार करना व्यर्थ समझ तृष्णा के क्षय पर ही मुख्य बल देते थे। उसी को पूर्वजन्म का कारण समझते थे। कुछ लोग कहते थे कि बुद्ध पुनर्जन्म को मानते थे किन्तु आत्मा को नहीं मानते थे। दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब आत्मा ही नहीं तब पुनर्जन्म किसका? इसका उत्तर यह है कि अबौद्ध-दर्शन जो कार्य आत्मा से लेते हैं वह सारा कार्य बौद्ध-दर्शन मन से लेता है। वे कहते हैं कि मन सभी अवस्थाओं का पूर्वगामी है, मन ही मुख्य है। मनुष्य मनोमय है जब आदमी मलिन मन से बोलता या कर्म करता है, तब दुःख उसके पीछे ऐसी तरह लग जाता है जैसे गाड़ी के पहिये बैल के पैरों के पीछे लग जाते हैं :—

मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो सेष्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥
ततो तं दुक्खमन्वेति चक्कं व बहतो पदं ॥

(धम्मपदं मनोवग्यो)

मन ही संस्कारों का वाहक हैं और इसी कारण दुःख और पुनर्जन्म होता है। इसलिए दुःख-नाश का यही उपाय है कि पाप कर्म न कर शुभ कर्म ही किये जावें और चित्त को वश में रखा जावे :—

सव्व पापस्स अकरणं कुसलस्य उपसंपदा।
सचित्त परियोदपणं एतं बुद्धानसासनं ॥ (धम्मपद)

यही मार्ग श्रेष्ठ है, इसी से दर्शन की शुद्धि होती है, और इसी में प्रतिपन्न होने पर दुःख का अन्त हो जाता है :—

एसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥ (धम्मपद)

उन्होंने संसार को अनित्य असुख और अनात्म इन तीन शब्दों में व्यक्त किया है। इसके सम्बन्ध में बुद्ध का मत बिल्कुल स्पष्ट था। उन्होंने कहा है :-

यदनित्यं तद् दुःखं यद् दुःख तद् अनात्मम् ॥

अर्थात् जो अनित्य वस्तु है उसमें ही दुःख है और जो अनात्म है वह सब अनित्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे ऐसी सत्ता में विश्वास करते थे जो कि नित्य और दुःख से परे है।

उपनिषदों में भी इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है कि यही आत्मा ब्रह्म है—'अयमात्मा ब्रह्म।' जो महान् है उसी में सुख है, अल्प में सुख नहीं है—'यद् वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति ॥' दुःख से दूर होने का उपाय उसी आत्मा की प्राप्ति है—'तरति शोकम् आत्मवित्।'

बुद्ध भगवान् ने अनित्य शब्द का प्रयोग किया। बाद में इसी का आधार लेकर क्षणभंगवाद का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। किन्तु इन दोनों शब्दों में बहुत अन्तर है। वे सांसारिक वस्तुओं को अनित्य और आत्मतत्त्व को नित्य मानते थे। इस प्रकार नित्य और अनित्य वस्तुओं में वे स्पष्ट भेद करते थे।

दुःख उपशम के लिये उन्होंने अष्टांगिक मार्ग खोज निकाला जिसके आठ अंग इस प्रकार है :—ये प्रज्ञ शील और समाधि के ही अंग हैं :—

१. सम्यक् दृष्टि २. सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
३. सम्यक् वाचा ४. सम्यक् कर्मान्त ५. सम्यक् आजीव	शील
६. सम्यक् व्यायाम ७. सम्यक् स्मृति ८. सम्यक् समाधि	समाधि

अश्वघोष ने चार अर्थं सत्यों को संक्षेप में इस प्रकार कहा है ;—

बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं
दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयम् ।
दुःखक्षयो निःशरणात्मकोऽयं
त्राणात्मकोऽयं प्रशमाय मार्गः ॥ (सौन्दरानन्द १६-४)

जगति क्षयधर्मके मुमुक्षुर्मृगयेऽहं शिवमक्षयं पदं तत् ।
(बुद्धचरित ५—१८)

अनित्य को त्याग कर नित्य का वर्णन करना उनका सिद्धान्त था । ऊपर के श्लोक में शिव और अक्षय पद निर्वाण के लिये प्रयुक्त हुआ है । उपनिषदों और बुद्ध के उपदेशों में जो भेद पड़ता है वह यही है कि उपनिषदों में जो विशेषण आत्मा के लिये प्रयोग किये गये हैं वे सब बुद्ध के उपदेशों में निर्वाण के लिये प्रयोग किये गये हैं । इसी से समझने में भ्रम हो जाता है । अश्वघोष ने तो निर्वाण के लिये मोक्ष शब्द का प्रयोग किया है :—

प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ।

बुद्धचरित में भगवान् बुद्ध के दिव्य जीवन के साथ जो उनके उपदेशों का समन्वय किया गया है, उससे ये उपदेश और भी हृदयग्राही हो जाते हैं । अश्वघोष पर वैदिक धर्म का इतना अधिक प्रभाव था कि उनकी लेखनी से प्रसूत वर्णन आर्यधर्म से अलग नहीं जान पड़ते, उसी के अङ्ग स्वरूप लगते

है। ऐसा नहीं जान पड़ता कि बौद्धधर्म कोई अलग धर्म है। उनकी उच्चतर भावना हर जगह प्रकट होती है :—

तपोवन में प्रवेश करते हुए वे कहते हैं कि मैंने स्वर्ग की लालसा स्नेह-हीनता या क्रोध से नहीं किन्तु जन्म-मरण का नाश करने ही के लिये ऐसा किया है —

जरामरणनाशार्थं प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम्।
न खलु स्वर्गतर्षेण नास्नेहेन न मन्युना॥

(बुद्ध ६—१५)

(गीता से तुलना कीजिये—'जरामरणमोक्षार्थं मामाश्रित्य यतन्ति ये।')

मैं शोक-त्याग के लिये निकला हूँ फिर मेरे लिये शोक क्यों ? जो शोक के हेतु भूत कर्मों में आसक्त हैं वे ही शोचनीय हैं :—

शोकत्यागाय निष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि।
शोकहेतुषु कामेषु त्यक्ता शोच्यास्तु रागिणः॥

(बुद्ध ६—१८)

गीता में यही भावना बिलकुल एक रूप में है :—

अशोच्यानन्वशोच्यस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

बुद्ध इस पर बल देते हैं कि श्रेयमार्ग का हमें तुरन्त आचरण करना चाहिये। उसमें देर नहीं करनी चाहिये—

अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति।
तस्मादद्यैव मे श्रेयश्चेतव्यमिति निश्चयः॥

(बुद्ध १—२१, २२)

वशिष्ठ जी ने भी कहा है :—

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयः वृद्धः सन् किं करिष्यति। (योगवासिष्ठ)

व्यासजी कहते हैं :—

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। (महाभारत)

आर्यधर्म का सिद्धान्त है कि जितने ही संग्रह हैं सबका क्षय, जितने उन्नत है उनका पतन संयोगों का वियोग और जीवन का मरण निश्चय है।

सर्वे क्षयान्ता निचया, पतनान्ता समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता, मरणान्तं तु जीवितम्॥

(यह श्लोक रामायण महाभारत तथा बौद्धग्रन्थों में ज्यों का त्यों पाया जाता है।)

प्राणियों का संयोग धारा में मिलने और बिछुड़नेवाली लकड़ी या आकाश में मिलनेवाली मेघों के समान ही है :—

समेत्य च यथा भूयो व्यपयान्ति बलाहकाः ।
संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः ॥ (बुद्ध ६–४७)
यथा काष्ठं च काष्ठं च समापेतं महोदधौ ।
समेत्य चाव्यपेयातां तद्वद्भूत-समागमः ॥ (महाभारत)

बुद्ध के त्याग को देखकर हमें राम का स्मरण हो आता है :—

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ (रघुवंश)

× × ×

तृण समान भूषण बसन, तात तजे रघुवीर ।
हृदय न हर्ष विषाद कछु पहरे वल्कल चीर ॥ (तुलसी)

× × ×

मुक्त्वा त्वलङ्कारकलत्रवत्तां, श्रीविप्रवासं शिरसश्च कृत्वा ।
दृष्ट्वांशुकं काञ्चनहंसचिन्हं वन्यं स धीरोभिचकांक्ष वासः ॥
(बुद्ध ६–५९)

बुद्ध को विदा करते हुए छन्दक की वही दशा हुई जैसे, श्रीराम को विदा करते हुए सुमंत्र की हुई थी :—

नास्मि यातुं पुरं शक्तो दह्यमानेन चेतसा ।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम् ॥ (बुद्ध ७–३६)

बुद्ध के चरित्र में हमें प्रबल, वैराग्य, त्याग, दृढता, अविचल निश्चय और लोकहित की भावना के प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सब से पहले संसार की नश्वरता से उत्पन्न काम भोगों के प्रति उन्हें निर्वेद उत्पन्न होता है और उनके दुःख रूप होने का अनुभव होता है। किस आत्मवान् को कामभोगों के प्रति प्रीति हो सकती है?—'कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्' । युवती, पत्नी, नवजात शिशु, वृद्ध पिता और समृद्धिपूर्ण राज्य को छोड़कर अमृत की खोज में वे निकल

पड़ते हैं (अमृतं प्राप्तुमितोद्य मे यियासा) भोगों के विपरीत तप की ओर मुड़ते हैं और कठोर तपस्या करते हैं। किन्तु उससे भी जब आत्मप्राप्ति नहीं होती तब मध्यम मार्ग (मज्झमा पटिपदा) आश्रय लेते हैं। पिता के मनाये जाने पर घर नहीं लौटते और कहते हैं कि संसार के विषयों से भी विरक्त होकर मैं शान्ति की कामना से यहाँ आया हूँ :—

अहं हि संसारशरेण विद्धः, विनिःसृतः शान्तिमवाप्तुकामः।

जगत हित की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने यह किया ('बोधाय जातोस्मि जगद्धितार्थम्' तथा 'धम्मस्य दुःखे जगतो हिताय') दृढ़ निश्चय करते हैं कि जब तक सफलता नहीं मिले तब तक अपने नगर में प्रवेश नहीं करेंगे :—

जन्ममरणयोरदृष्टपारः न पुनः कपिलालयं प्रवेष्टाः।

चाहे प्रज्वलित अग्नि में क्यों न प्रवेश करना पड़े किन्तु असफल होकर घर नहीं लौटूँगा।

अहं विशेषं ज्वलितं हुताशनं न चाकृतार्थः प्रविशेयमालयम्॥

उन्हें निश्चय से डिगाने के लिये अनेक विघ्न आते हैं जिन्हें मार का आक्रमण कहा गया है। वे उस पर विजय प्राप्त करते हैं। यहीं तक का वर्णन बुद्धचरित के १४ सर्गों में मिलता है। १४ वें सर्ग के केवल ३१ श्लोक प्राप्त होते हैं। वैसे तो प्रथम सर्ग के प्रारम्भिक ७ श्लोक तथा २५ से ३९ श्लोक भी मूल प्रति में अप्राप्य हैं। शास्त्री जी ने १४वें सर्ग में ३२ से ११२ श्लोकों की रचना की है।

व्योहार राजेन्द्र सिंह
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी साहित्य सम्मेलन (म. प्र.)

विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

बुद्धचरितम्

पूर्वार्द्धम्

अथ प्रथमः सर्गः

भगवत्प्रसूतिः

(भगवान् का जन्म)

इक्ष्वाकुवंशार्णवसम्प्रसूतः प्रेमाकरश्चन्द्र इव प्रजानाम् ।
शाक्येषु साकल्यगुणाधिवासः शुद्धोदनाख्यो नृपतिर्बभूव ॥ १ ॥

इक्ष्वाकु वंश रूपी समुद्र में उत्पन्न, प्रजाओं के लिये चन्द्र सदृश प्रेम का आकर, सम्पूर्ण गुणों का निधान–शुद्धोदन नामक राजा, शाक्यों में हुआ ॥ १ ॥

आसीन्महेन्द्राद्रिसमस्य तस्य पृथ्वीव गुर्वी महिषी नृपस्य ।
मायेति नाम्नी शिवरत्नसारा शीलेन कान्त्याऽप्यधिदेवतेव ॥ २ ॥

महेन्द्र पर्वत के सदृश उस राजा की कल्याणमय रत्नों से सार वाली, पृथ्वी के समान गौरवशालिनी शील एवं कान्ति से अधिदेवता के तुल्य 'माया' नाम की रानी थी ॥ २ ॥

देवैरभिप्रार्थ्यमनल्पभोगं सार्धं तयाऽसौ बुभुजे नृपालः ।
सा चाथ विद्येव समाधियुक्ता गर्भं दधे लोकहिताय साध्वी ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अश्वघोष कृत प्रथम सात मूल श्लोक अनुपलब्ध हैं। इन श्लोकों की रचना, श्री सूर्यनारायण चौधरी की हिन्दी के आधार पर रामचन्द्र दास शास्त्री ने की है।

राजा उस रानी के साथ, देवता भी जिसकी अभिलाषा करते थे-अपार (सुख) भोग भोगता था और तब समाधियुक्त विद्या के सदृश उस रानी ने लोक-कल्याण के लिए गर्भ धारण किया ॥ ३ ॥

पूर्वं तु सा चन्द्रमिवाभ्रमध्ये स्वप्ने ददर्शात्मवपुर्विशन्तम् ।
नागेन्द्रमेकं धवलं न धीरा तस्मान्निमित्ताद्विभयाञ्चकार ॥ ४ ॥

उस रानी ने (गर्भ धारण के) पहले स्वप्न में अपने अन्दर एक हाथी प्रवेश करते हुए उसी प्रकार देखा जैसे बादल में चन्द्रमा प्रवेश करता किन्तु उस कारण से वह धीर रानी डरी नहीं ॥ ४ ॥

वंशश्रियं गर्भगतां वहन्ती प्राचीव कल्ये विरराज राज्ञी ।
सा शोकमोहक्लमवर्जितापि घनं वनं गन्तुमियेष देवी ॥ ५ ॥

वंश की शोभा या वैभव रूप गर्भ को धारण किये हुए वह रानी, प्रातःका प्राची दिशा की भाँति शोभित हुई और शोक, मोह तथा थकान रहित भी देवी ने सान्द्रवन में जाने की इच्छा की ॥ ५ ॥

सा लुम्बनीनाम्नि वने मनोज्ञे ध्यानप्रदे देववनादनूने ।
वासेच्छया प्राह पतिं प्रतीता सत्त्वानिभं दोहदमामनन्ति ॥ ६ ॥

विश्वास करने वाली वह रानी, मनोहर, ध्यानप्रद एवं देववन (नन्दनव से कम नहीं ऐसे 'लुम्बिनी' नाम वन में निवास करने की इच्छा से पति से बो गर्भ के अनुसार हीं दोहद (गर्भकालीन इच्छा) होती है—ऐसा माना है ॥ ६

तस्या विदित्वा नृप आर्यभावं धर्म्यञ्च तुष्टः सुतरामनन्दत् ।
इच्छाविघातादहितं विशङ्क्य तत्प्रीतये चाशु विनिर्जगाम ॥ ७ ॥

राजा उसका धर्म युक्त श्रेष्ठ भाव जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ । इच्छाविघात अनिष्ट की आशंका करके रानी की प्रसन्नता के लिये शीघ्र निकल पड़ा ॥ ७

तस्मिन् वने श्रीमति राजपत्नी प्रसूतिकालं समवेक्षमाणा ।
शय्यां वितानोपहितां प्रपेदे नारीसहस्रैरभिनन्द्यमाना ॥ ८ ॥

सहस्रों स्त्रियों से अभिनन्दित (सेवित) राजा की पत्नी, प्रसव-काल निक समझकर, उस शोभायुक्त वन में वितान सहित शय्या पर गई ॥ ८ ॥

ततः प्रसन्नश्च बभूव पुष्यस्तस्याश्च देव्या व्रतसंस्कृतायाः ।
पार्श्वात् सुतो लोकहिताय जज्ञे निर्वेदनं चैव निरामयं च ॥ ९ ॥

तब निर्मल पुष्य नक्षत्र प्रकट हुआ और व्रत से संशुद्ध देवी के पार्श्व से लोक-कल्याणार्थ पुत्र उत्पन्न हुआ; रानी को न तो पीड़ा हुई और न रोग ही हुआ ॥ ९ ॥

ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्धातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्ध्नः ।
कक्षीवतश्चैव भुजांसदेशात्तथाविधं तस्य बभूव जन्म ॥ १० ॥

जिस प्रकार और्व का जन्म जाँघ से, पृथु का हाथ से, इन्द्रसदृश मान्धाता का मस्तक से तथा कक्षीवान् का काँख से हुआ था, उसी प्रकार उसका जन्म 'पार्श्व' से हुआ ॥ १० ॥

क्रमेण गर्भादभिनिःसृतः सन् बभौ च्युतः खादिव योन्यजातः ।
कल्पेष्वनेकेषु च भावितात्मा यः सम्प्रजानन् सुषुवे न मूढः ॥ ११ ॥

काल-क्रम से गर्भ से निकलने पर, वह आकाश से गिरे हुए के समान शोभित हुआ, और अनेक कल्पों में कृत पुण्य के कारण पवित्र अन्तःकरण वाला वह सबोध (जाग्रत्) उत्पन्न हुआ, मूढ़ (मूर्छित) होकर नहीं ॥ ११ ॥

दीप्त्या च धैर्येण च यो रराज बालो रविर्भूमिमिवावतीर्णः ।
तथातिदीप्तोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षूंषि यथा शशाङ्कः ॥ १२ ॥

तेज एवं धैर्य से वह, भूमि पर आये हुए बाल सूर्य की भाँति, शोभित हुआ और अत्यन्त तेजस्वी होने पर भी, देखे जाने पर, (देखने वालों के) नेत्र, चन्द्रमा के समान; हर लेता था ॥ १२ ॥

स हि स्वगात्रप्रभया ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष ।
महार्हजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः ॥ १३ ॥

उसने अपने शरीर की जाज्वल्यमान प्रभा से सूर्य सदृश दीपप्रभा को हर लिया, और उत्तम स्वर्ण सदृश सुन्दर वर्ण वाले (उस बालक) ने सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित किया ॥ १३ ॥

अनाकुलाकुब्जसमुद्‌घृतानि निष्पेषवद्व्यायतविक्रमाणि ।
तथैव धीराणि पदानि सप्त सप्तर्षितारासदृशो जगाम ॥ १४ ॥

सप्तर्षि तारा के सदृश वह सात पग चला; उसके ये पग शान्त, ऋजु ,उन्नत, पूर्वम्यस्त, दीर्घ, पराक्रमयुक्त एवं धीर थे ॥ १४ ॥

बोधाय जातोऽस्मि जगद्धितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियं ममेति ।
चतुर्दिशं सिंहगतिर्विलोक्य वाणीं च भव्यार्थकरीमुवाच ॥ १५ ॥

और सिंह के सदृश गति वाले (उस बालक) ने चहुँ ओर देखकर य
भव्य एवं सार्थक वाणी की—'विश्वकल्याण के लिये एवं ज्ञानप्राप्ति के लिए मैं
जन्म ग्रहण किया है; संसार में यह मेरा अन्तिम जन्म है' ॥ १५ ॥

खात् प्रस्नुते चन्द्रमरीचिशुभ्रे द्वे वारिधारे शिशिरोष्णवीर्ये ।
शरीरसंस्पर्शसुखान्तराय निपेततुर्मूर्धनि तस्य सौम्ये ॥ १६

चन्द्र किरण सदृश निर्मल दो धाराएँ— शीतल एवं उष्ण, आकाश से स्रवि
हुईं और आन्तरिक सुख के लिये शरीर स्पर्श कर उसके सौम्य मस्तक प
गिरीं ॥ १६ ॥

श्रीमद्विताने कनकोज्ज्वलाङ्गे वैडूर्यपादे शयने शयानम् ।
यद्गौरवात् काञ्चनपद्महस्ता यक्षाधिपाः संपरिवार्य तस्थुः ॥ १७ ॥

सुन्दर चाँदनी से युक्त, स्वर्णमय उज्ज्वल एवं वैडूर्य मणि के पादों से यु
शय्या पर वह सोया हुआ था। उसके प्रभाव के कारण यक्षपति-गण हाथ में स्व
कमल धारण किये हुए उसे चहुँ ओर घेर कर खड़े हुए ॥ १७ ॥

अदृश्यरूपाश्च दिवौकसः खे यस्य प्रभावात् प्रणतैः शिरोभिः ।
अधारयन् पाण्डुरमातपत्रं बोधाय जेपुः परमाशिषश्च ॥ १८

और अदृश्य रूप देव गणों ने उसके प्रभाव से प्रभावित होकर, नत मस्तक हो
आकाश में शुभ्र छत्र धारण किया और उसको बुद्धत्व प्राप्ति के लिये शुभाशीर्वा
दिये ॥ १८ ॥

महोरगा धर्मविशेषतर्षाद् बुद्धेष्वतीतेषु कृताधिकाराः ।
यमव्यजन् भक्तिविशिष्टनेत्रा मन्दारपुष्पैः समवाकिरंश्च ॥ १९ ॥

अतीत बुद्धों में जिनका अधिकार था (उनको सेवा द्वारा प्रसन्न किया था
ऐसे बड़े-बड़े सर्पों ने धर्म-विशेष की लालसा से उसके ऊपर व्यजन डुलाये औ
भक्ति-युक्त नेत्रों से देखते हुए मन्दार फूल बरसाये ॥ १९ ॥

तथागतोत्पादगुणेन तुष्टाः शुद्धाधिवासाश्च विशुद्धसत्त्वाः ।
देवा ननन्दुर्विगतेऽपि रागे मग्नस्य दुःखे जगतो हिताय ॥ २० ॥

तथागत के जन्म से प्रसन्न होकर, पवित्र अन्तःकरण वाले शुद्धाधिवास देवग
उदासीन (राग रहित) होने पर भी आनन्दित हुए, (क्योंकि) दुःख से पीड़ि
विश्व के हित के लिये उनका जन्म हुआ है ॥ २० ॥

यस्य प्रसूतौ गिरिराजकीला वाताहता नौरिव भूश्चचाल।
सचन्दना चोत्पलपद्मगर्भा पपात वृष्टिर्गगनादनभ्रात् ॥ २१ ॥

उसके जन्म होने पर गिरिराज (सुमेरु) रूप कील पर स्थिर रहनेवाली पृथ्वी, वायु से आहत नौका की भाँति काँपी और बिना बादल के आकाश से चन्दन सुगन्धि युक्त लाल नीले कमल मिश्रित वृष्टि हुई ॥ २१ ॥

वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः।
सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशे जज्ज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः ॥२२॥

स्पर्श से आनन्द देने वाली, एवं मन को लुभाने वाली वायु उत्तम वस्त्रों की वर्षा करती हुई बहने लगी। वही सूर्य (इस प्रकार) अत्यधिक तेजस्वी हुआ (मानो) बिना धौंके ही अग्नि सौम्य शिखा सहित जलने लगी ॥ २२ ॥

प्रागुत्तरे चावसथप्रदेशे कूपः स्वयं प्रादुरभूत् सिताम्बुः।
अन्तःपुराण्यागतविस्मयानि यस्मिन् क्रियास्तीर्थ इव प्रचक्रुः ॥२३॥

निवास भूमि की उत्तर-पूर्व दिशा में उज्ज्वल जल युक्त कुएँ का निर्माण अपने आप ही हुआ जिसे तीर्थ सदृश (पवित्र) मानकर, अन्तःपुर स्थित स्त्रियों ने आश्चर्य चकित समस्त क्रियाएँ कीं ॥ २३ ॥

धर्मार्थिभिर्भूतगणैश्च दिव्यैस्तद्दर्शनार्थं वनमापुपूरे।
कौतूहलेनैव च पादपेभ्यः पुष्पाण्यकालेऽप्यवपातयद्भिः ॥ २४ ॥

उसके दर्शन के लिये आये हुए धर्माभिलाषी महापुरुषों से वह वन भर गया। उन्होंने कौतूहलपूर्वक असमय में भी वृक्षों से खिले हुए पुष्पों की वर्षा की ॥२४॥

भूतैरसौम्यैः परित्यक्तहिंसैर्नाकारि पीडा स्वगणे परे वा।
लोके हि सर्वाश्च विना प्रयासं रुजो नराणां शमयांबभूवुः ॥ २५ ॥

क्रूर प्राणियों ने स्वाभाविक हिंसा त्यागकर स्वजनों अथवा अन्य लोगों को कष्ट नहीं पहुँचाया और संसार में सब प्रकार के रोग बिना प्रयत्न के शान्त हो गये ॥ २५ ॥

कलं प्रणेदुः मृगपक्षिणश्च शान्ताम्बुवाहाः सरितो बभूवुः।
दिशः प्रसेदुर्विमले निरभ्रे विहायसे दुन्दुभयो निनेदुः ॥ २६ ॥

मृग और पक्षी मधुर स्वर में बोले, नदियाँ शान्त जल युक्त बहीं, दिशायें निर्मल हो गईं, मेघ रहित स्वच्छ आकाश में नगाड़े बजे ॥ २६ ॥

लोकस्य मोक्षाय गुरौ प्रसूते शमं प्रपेदे जगदव्यवस्थम् ।
प्राप्येव नाथं खलु नीतिमन्तमेको न मारो मुदमाप लोके ॥ २७ ॥

जगत् के मोक्ष के लिये गुरु के उत्पन्न होने पर अव्यवस्थित जगत् शान्त (व्यवस्थित) हो गया मानो नीतिमान् राजा प्राप्त हो गया हो। केवल कामदेव को प्रसन्नता नहीं हुई ॥ २७ ॥

दिव्याद्भुतं जन्म निरीक्ष्य तस्य धीरोऽपि राजा बहुक्षोभमेतः ।
स्नेहाद्दसौ भीतिप्रमोदजन्ये द्वे वारिधारे मुमुचे नरेन्द्रः ॥ २८ ॥

उसका दिव्य एवं अद्भुत जन्म देखकर राजा धैर्यवान् होने पर भी अत्यन्त क्षुब्ध हुआ और स्नेहवश भय एवं प्रमोदजन्य दो अश्रु-धाराएँ उसने प्रवाहित कीं ॥ २८ ॥

अमानुषीं तस्य निशम्य शक्ति माता प्रकृत्या करुणार्द्रचित्ता ।
प्रीता च भीता च बभूव देवी शीतोष्णमिश्रेव जलस्य धारा ॥ २९ ॥

उसकी अमानवीय शक्ति देखकर, स्वभाव से ही करुण हृदय वाली माता, शीतल एवं उष्ण जल की मिश्रित धारा की भाँति, आनन्द एवं भय से भर गई ॥ २९ ॥

निरीक्षमाणा भयहेतुमेव ध्यातुं नशेकुः वनिताः प्रवृद्धाः ।
पूताश्च ता मङ्गलकर्म चक्रुः शिवं ययाचुः शिशवे सुरौघान् ॥ ३० ॥

अति वृद्ध स्त्रियाँ भय के ही कारण देखती हुई, ध्यान करने में असमर्थ रहीं और पवित्र होकर उन्होंने मङ्गलाचरण किया तथा देव-समुदाय से शिशु के लिए मङ्गल की याचनाएँ कीं ॥ ३० ॥

विप्राश्च ख्याताः श्रुतशीलवाग्भिः श्रुत्वा निमित्तानि विचार्य सम्यक् ।
मुखैः प्रफुल्लैश्चकितैश्च दीप्तैर्भीतं प्रसन्नं नृपमेत्य प्रोचुः ॥ ३१ ॥

शास्त्र, शील एवं वाणी में ख्यातिप्राप्त ब्राह्मणों ने निमित्त सुनकर, उस पर अच्छी तरह विचार किया और आश्चर्य सहित प्रफुल्लित एवं उज्ज्वल मुख से राजा से; जो कि भयभीत एवं प्रसन्न भी था कहा—॥ ३१ ॥

शमेप्सवो ये भुवि सन्ति सत्त्वाः पुत्रं विनेच्छन्ति गुणं न कञ्चित् ।
त्वत्पुत्र एषोऽस्ति कुलप्रदीपो नृत्योत्सवं त्वद्य विधेहि राजन् ॥ ३२ ॥

हे राजन्! संसार में जो शान्ति चाहने वाले प्राणी हैं, वे पुत्र के अतिरिक्त

और कोई गुण नहीं चाहते। आपका यह पुत्र कुल का दीपक है, अतः आज नृत्य उत्सव कीजिये ॥ ३२ ॥

विहाय चिन्तां भव शान्तचित्तो मोदस्व वंशस्तव वृद्धिभागी।
लोकस्य नेता तव पुत्रभूतो दुःखार्दितानां भुवि एष त्राता ॥ ३३ ॥

चिन्ता छोड़कर शान्त चित्त होकर आनन्द कीजिए, आप का वंश उन्नतिशील होगा। संसार में दुःखों से पीड़ित लोगोंका रक्षक एवं विश्व का नेता, यह तुम्हरा पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है ॥ ३३ ॥

दीपप्रभोऽयं कनकोज्ज्वलाङ्गः सुलक्षणैर्यैस्तु समन्वितोऽस्ति।
निधिर्गुणानां समये स गन्ता बुद्धर्षिभावं परमां श्रियं वा ॥ ३४ ॥

दीप के समान प्रकाशवान्, स्वर्ण की भाँति उज्ज्वल कान्ति वाला (यह बालक) जिन शुभ लक्षणों से युक्त है, (उनसे) वह समय पर गुणों का निधान होगा और बुद्धों में ऋषि होगा अथवा अत्यन्त (राज्य) श्री प्राप्त करेगा ॥ ३४ ॥

इच्छेदसौ वै पृथिवीश्रियं चेद् न्यायेन जित्वा पृथिवीं समग्राम्।
भूपेषु राजेत यथा प्रकाशो ग्रहेषु सर्वेषु रवेर्विभाति ॥ ३५ ॥

यदि पृथ्वी के राज्य की इच्छा करें तो न्याय से सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर सब राजाओं के ऊपर उसी तरह शोभित होगा जिस प्रकार समस्त ग्रहों के ऊपर सूर्य का प्रकाश ॥ ३५ ॥

मोक्षाय चेद्वा वनमेव गच्छेत् तत्त्वेन सम्यक् स विजित्य सर्वान्।
मतान् पृथिव्यां बहुमानमेतो राजेत शैलेषु यथा सुमेरुः ॥ ३६ ॥

अथवा यदि मोक्ष के लिये वन को ही जावे तो वह (अपने) तत्त्व ज्ञान से सब मतों को जीत कर पृथ्वी पर बहु सम्मानित हो, उसी प्रकार प्रतिष्ठित होगा जिस प्रकार पर्वतों के मध्य सुमेरु ॥ ३६ ॥

यथा हिरण्यं शुचि धातुमध्ये मेरुर्गिरीणां सरसां समुद्रः।
तारासु चन्द्रस्तपतां च सूर्यः पुत्रस्तथा ते द्विपदेषु वर्यः ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार धातुओं में शुद्ध स्वर्ण, पर्वत में सुमेरु, जलाशयों में समुद्र, ताराओं में चन्द्रमा तथा अग्नियों में सूर्य श्रेष्ठ है उसी प्रकार मनुष्यों में आपका पुत्र श्रेष्ठ है ॥ ३७ ॥

तस्याक्षिणी निर्निमिषे विशाले स्निग्धे च दीप्ते विमले तथैव ।
निष्कम्पकृष्णायतशुद्धपक्ष्मे द्रष्टुं समर्थे खलु सर्वभावान् ॥ ३८

उसके नेत्र निर्निमेष, विशाल, स्निग्ध, तीव्र एवं निर्मल हैं उसी प्रकार निश्च काले एवं लम्बे पपनियों वाले हैं अतः सब कुछ देख सकने में समर्थ हैं ॥ ३८

कस्मान्नु हेतोः कथितान् भवद्भिर्वरान् गुणान् धारयते कुमारः ।
प्रापुर्न पूर्वे मुनयो नृपाश्च राज्ञेति पृष्टा जगदुर्द्विजास्तम् ॥ ३९

राजा ने पूछा—'क्या कारण है कि आपके द्वारा बतलाये हुए जिन श्रेष्ठ गु को कुमार धारण किये हुए है वे, पहले के मुनियों एवं ऋषियों में नहीं थे तब ब्राह्मणों ने उससे कहा—॥ ३९ ॥

ख्यातानि कर्माणि यशो मतिश्च पूर्वं न भूतानि भवन्ति पश्चात् ।
गुणा हि सर्वाः प्रभवन्ति हेतोर्निदर्शनान्यत्र च नो निबोध ॥ ४०

विख्यात कर्म, यश तथा बुद्धि, पहले (किसी में) नहीं हुए, बाद में (कि में) देखे गये, (इस सम्बन्ध में सन्देह की बात नहीं है) क्योंकि सब प्रकार गुण किसी कारण से उत्पन्न होते है, हमारा दृष्टान्त सुनिये—॥ ४० ॥

यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ ।
तयोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत् कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च ॥ ४१

हे सौम्य ! वंश-परम्परा चलानेवाले भृगु एवं अङ्गिरा ऋषियों ने जिस रा शास्त्र को नहीं बनाया था, उस शास्त्र को उनके पुत्र शुक्र एवं बृहस्पति बनाया ॥ ४१ ॥

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे ।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवानशक्तिः ॥ ४२

और जिस नष्ट हुए वेद को पहिले किसी ने नहीं देखा उसे (बाद में) सरस्व के पुत्र ने कहा तथा व्यास ने इसको कई विभागों में विभक्त किया जो शक्तिहीनवसिष्ठ ने नहीं किया था ॥ ४२ ॥

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः ।
चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥ ४३

सर्वप्रथम वाल्मीकि ने पद्य रचना की, जो महर्षि च्यवन ने नहीं की तथा अत्रि ने जिस चिकित्सा शास्त्र को नहीं रचा था, उसे आत्रेय ऋषि कहा ॥ ४३ ॥

यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तद्गाधिनः सूनुरवाप राजन् ।
वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमं बबन्धुः ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! विश्वामित्र के पूर्वज कुशिक ने जिस द्विजत्व को नहीं पाया था, उसे गाधि-पुत्र विश्वामित्र ने प्राप्त किया और सगर ने समुद्र में वेला बाँधी, जो इक्ष्वाकु के वंश में किसी ने नहीं बाँधी थी ॥ ४४ ॥

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम ।
ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः ॥ ४५ ॥

योगविधि में द्विजों का जो आचार्य पद किसी दूसरे को नहीं मिला था; वह पद जनक को प्राप्त हुआ । शौरि ने जो प्रसिद्ध कर्म किये; शूर आदि उन कर्मों में असमर्थ रहे ॥ ४५ ॥

तस्मात् प्रमाणं न वयो न वंशः कश्चित् क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके ।
राज्ञामृषीणां च हि तानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥ ४६ ॥

अतः न तो अवस्था ही प्रमाण है और न वंश ही । संसार में कोई भी कही भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है क्योंकि राजाओं एवं ऋषियों के पुत्रों ने वे कर्म किये जो उनके पूर्वजों ने नहीं किये थे ॥ ४६ ॥

एवं नृपः प्रत्ययितैर्द्विजैस्तैराश्वासितश्चाप्यभिनन्दितश्च ।
शंकामनिष्टां विजहौ मनस्तः प्रहर्षमेवाधिकमारुरोह ॥ ४७ ॥

इस प्रकार उन विश्वासी ब्राह्मणों ने राजा को शान्त्वना दी तथा उसका अभिनन्दन किया तब राजा ने अपने मन की अनिष्ट शंकाओं का परित्याग किया एवं अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त की ॥ ४७ ॥

प्रीतश्च तेभ्यो द्विजसत्तमेभ्यः सत्कारपूर्वं प्रददौ धनानि ।
भूयादयं भूमिपतिर्यथोक्तो यायाज्जरामेत्य वनानि चेति ॥ ४८ ॥

तब (नृप ने) प्रसन्न होकर उन ब्राह्मणश्रेष्ठों को सत्कारपूर्वक इस उद्देश्य से धन दिया कि उनके कथनानुसार वह राजा होवे एवं वृद्धावस्था में हो वन को जाय ॥ ४८ ॥

अथो निमित्तैश्च तपोबलाच्च तज्जन्म जन्मान्तकरस्य बुद्ध्वा ।
शाक्येश्वरस्यालयमाजगाम सद्धर्मतर्षादसितो महर्षिः ॥ ४९ ॥

तब महर्षि असित, निमित्तों से और तपोबल से 'जन्मान्तकर'—जन्म का

अन्त करने वाले—का वह जन्म जानकर सद्धर्म की जिज्ञासा से शाक्य राजा के घर आये ॥ ४९ ॥

तं ब्रह्मवित् ब्रह्मविदं ज्वलन्तं ब्राह्म्या श्रिया चैव तपःश्रिया च ।
राज्ञो गुरुर्गौरवमत्क्रियाभ्यां प्रवेशयामास नरेन्द्रसद्म ॥५०॥

ब्रह्मवेत्ता राज-गुरु ने ब्रह्मतेज और तपस्तेज से देदीप्यमान उस ब्रह्मज्ञानी को गौरव एवं सत्कारपूर्वक राजमहल में प्रवेश कराया ॥ ५० ॥

स पार्थिवान्तःपुरसन्निकर्षं कुमारजन्मागतहर्षवेगः ।
विवेश धीरो वनसंज्ञयेव तपःप्रकर्षाच्च जराश्रयाच्च ॥ ५१ ॥

कुमार के जन्म से प्राप्त हर्ष-वेग से युक्त वे (असित) राजा के अन्तःपुर के निकट पहुँचे । तपस्या के आधिक्य एवं वृद्धावस्था के कारण धीर, (वे मुनि) वहाँ भी वन सदृश समझते थे ॥ ५१ ॥

ततो नृपस्तं मुनिमासनस्थं पाद्यार्घ्यपूर्वं प्रतिपूज्य सम्यक् ।
निमंत्रयामास यथोपचारं पुरा वसिष्ठं स इवान्तिदेवः ॥ ५२ ॥

तब राजा ने उस मुनि को सिंहासन पर बैठाकर उसकी पाद्य-अर्घ्य सहित विधिवत् पूजा करके उससे उसी प्रकार सादर निवेदन किया जिस प्रकार पूर्व काल में अन्तिदेव ने वसिष्ठ से किया था ॥ ५२ ॥

धन्योऽस्म्यनुग्राह्यमिदं कुलं मे यन्मां दिदृक्षुर्भगवानुपेतः ।
आज्ञाप्यतां किं करवाणि सौम्य शिष्योऽस्मि विस्रम्भितुमर्हसीति ॥५३॥

मैं धन्य हूँ, मेरा यह कुल अनुगृहीत है जो कि आप मुझे देखने के लिए आये हैं । हे सौम्य ! आज्ञा दीजिये, मै क्या सेवा करूँ ? आपका शिष्य हूँ, विश्वास कीजिये ॥ ५३ ॥

एवं नृपेणोपनिमंत्रितः सन् सर्वेण भावेन मुनिर्यथावत् ।
स विस्मयोत्फुल्लविशालदृष्टिर्गम्भीरधीराणि वचांस्युवाच ॥ ५४ ॥

इस प्रकार राजा ने सर्वथा नम्र भाव से मुनि के प्रति उचित निवेदन किया । तब मुनि के नेत्र आश्चर्य से पुलकित एवं विशाल हो गये तथा मुनि ने ये गम्भीर एवं धीर वचन कहे— ॥ ५४ ॥

महात्मनि त्वय्युपपन्नमेतत् प्रियातिथौ त्यागिनि धर्मकामे ।
सत्त्वान्वयज्ञानवयोऽनुरूपा स्निग्धा यदेवं मयि ते मतिः स्यात् ॥५५॥

आप अतिथि-प्रिय, त्यागशील, धर्माभिलाषी एवं महात्मा हैं। आप में यह योग है जो कि अपने स्वभाव, वंश, ज्ञान एवं अवस्था के अनुरूप आपकी प्रेम-बुद्धि मुझ में हो रही है ॥ ५५ ॥

एतच्च तद्येन नृपर्षयस्ते धर्मेण सूक्ष्मेण धनान्यवाप्य ।
नित्यं त्यजन्तो विधिवत् बभूवुस्तपोभिराढ्या विभवैर्दरिद्राः ॥ ५६ ॥

यह वही विधि है जिससे वे राजर्षि दुरूह धर्म से धन प्राप्त करके निरन्तर विधिवत् दान करते हुए तपस्या से परिपूर्ण एवं धन से रिक्त हो गये ॥ ५६ ॥

प्रयोजनं यत्तु ममोपयाने तन्मे शृणु प्रीतिमुपेहि च त्वम् ।
दिव्या मयादित्यपथे श्रुता वाग्बोधाय जातस्तनयस्तवेति ॥ ५७ ॥

किन्तु मेरे आने का जो अभिप्राय है उसे आप सुनिये एवं सुख पाइये। सूर्य मार्ग में मैंने दिव्य वाणी सुनी है कि बुद्धत्व प्राप्ति के लिए आपका पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥ ५७ ॥

श्रुत्वा वचस्तच्च मनश्च युक्त्वा ज्ञात्वा निमित्तैश्च ततोऽस्म्युपेतः ।
दिदृक्षया शाक्यकुलध्वजस्य शक्रध्वजस्येव समुच्छ्रितस्य ॥ ५८ ॥

उस (दिव्य) वाणी को सुनकर अपने मन को योग युक्त कर तथा निमित्तों से भी जानकर, वहाँ से, इन्द्र की ध्वजा के समान अति उन्नत शाक्यकुल की ध्वजा को देखने की इच्छा से यहाँ आया हूँ ॥ ५८ ॥

इत्येतदेवं वचनं निशम्य प्रहर्षसंभ्रान्तगतिर्नरेन्द्रः ।
आदाय धात्र्यङ्कगतं कुमारं संदर्शयामास तपोधनाय ॥ ५९ ॥

इस प्रकार यह वचन सुनकर प्रसन्नता से शीघ्र गति वाले राजा ने धाई की गोद से कुमार को लेकर तपोधन के लिए दिया ॥ ५९ ॥

चक्राङ्कपादं स ततो महर्षिर्जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम् ।
सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श ॥ ६० ॥

तब महर्षि ने आश्चर्य सहित राजपुत्र को देखा—उसके पैरों में चक्र के चिन्ह थे, अङ्गुलियों, हाथों एवं पैरों में रेखाओं के जाल बिछे हुए थे, भौंहें बालों से युक्त थीं एवं अण्डकोश हाथी के समान सूक्ष्म थे ॥ ६० ॥

धात्र्यङ्कसंविष्टमवेक्ष्य चैनं देव्यङ्कसंविष्टमिवाग्निसूनुम् ।
बभूव पक्ष्मान्तविचञ्चिताश्रु निश्वस्य चैवं त्रिदिवोन्मुखोऽभूत् ॥६१॥

देवी (पार्वती) की गोद में सोये हुए अग्निसूनु (कार्तिकेय) के समान, धाई की गोद में सोये हुए इस कुमार को देखकर, महर्षि, जिनकी पपनियों पर आँसू आ गये थे, लम्बी सांसें लेकर आकाश की ओर देखने लगे ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वासितं त्वश्रुपरिप्लुताक्षं स्नेहात्तनूजस्य नृपश्चकम्पे ।
सगद्गद बाष्पकषायकण्ठः पप्रच्छ स प्राञ्जलिरानताङ्गः ॥ ६२ ॥

आँसुओं से तराबोर नेत्र वाले असित को देखकर पुत्र-वात्सल्य से राजा काँप गया। उसका कण्ठ बाष्प से भारी हो गया। सिर झुकाये, तथा हाथ जोड़े हुए गद्गद स्वर में उसने पूछा—॥ ६२ ॥

अल्पान्तरं यस्य वपुः सुरेभ्यो बह्वद्भुतं यस्य च जन्म दीप्तम् ।
तस्योत्तमं भाविनमात्थ चार्थं तं प्रेक्ष्य कस्मात्तव धीर बाष्पः ॥६३॥

हे धीर ! (आपने) जिसका शरीर देवताओं से थोड़े ही अन्तर का, जिसका देदीप्यमान जन्म बहुत अद्भुत एवं जिसका भावी अर्थ उत्तम कहा है उसे देखकर आपको आँसू क्यों आये ॥ ६३ ॥

अपि स्थिरायुर्भगवन् कुमारः कच्चिन्न शोकाय मम प्रसूतः ।
लब्धा कथञ्चित्सलिलाञ्जलिर्मे न खल्विमं पातुमुपैति कालः ॥६४॥

हे भगवन् ! कुमार दीर्घायु है न ? मेरे शोक के लिये तो नहीं जन्मा है ? जो जलांजलि मुझे बड़ी कठिनाई से प्राप्त है उसे पीने के लिये काल तो नहीं आ रहा है ? मुझे मृत्यु के बाद जलाञ्जलि देने के लिये कुमार जीवित तो रहेगा न ? ॥ ६४ ॥

अप्यक्षयं मे यशसो निधानं कच्चिद् ध्रुवो मे कुलहस्तसारः ।
अपि प्रयास्यामि सुखं परत्र सुप्तोऽपि पुत्रेऽनिमिषैकचक्षुः ॥ ६५ ॥

मेरे यश के कोष अक्षय हैं न ? मेरे पूर्वजों की कमाई (राज्य) निश्चल तो है ? पुत्र के प्रति एक आँख खुली रखने वाला मैं सुखपूर्वक परलोक जाऊँगा ? ॥ ६५ ॥

कच्चिन्न मे जातमफुल्लमेव
कुलप्रवालं परिशोषभागि ।
क्षिप्रं विभो ब्रूहि न मेऽस्ति शान्तिः
स्नेहं सुते वेत्सि हि बान्धवानाम् ॥ ६६ ॥

क्या मेरा यह नव जात कुल का अङ्कुर बिना फूले सूख तो नहीं जायगा ? हे विभो ! शीघ्र बतावें मुझे शान्ति नहीं है, क्योंकि पुत्र के प्रति पिता का प्रेम आप जानते ही हैं ॥ ६६ ॥

इत्यागतावेगमनिष्टबुद्ध्या बुद्ध्वा नरेन्द्रं स मुनिर्बभाषे ।
मा भून्मतिस्ते नृप काचिदन्या निःसंशयं तद्यदवोचमस्मि ॥ ६७ ॥

अनिष्ट के भय से इस प्रकार भयभीत होने वाले राजा से उस मुनि ने कहा—हे राजन् ! आपकी धारणा अन्य प्रकार की नहीं होनी चाहिये, जो कुछ मैंने कहा है, वह निस्सन्देह होगा ॥ ६७ ॥

नास्यान्यथात्वं प्रति विक्रिया मे स्वां वञ्चनां तु प्रति विक्लवोऽस्मि ।
कालो हि मे यातुमयं च जातो जातिक्षयस्यासुलभस्य बोद्धा ॥ ६८ ॥

इसके अनिष्ट के प्रति मुझे विकार नहीं हुआ है, मैं वञ्चित हो रहा हूँ इसीलिये मैं विकल हूँ । मेरे जाने का यह समय (मरण काल) आ गया है एवं जन्मनाश के सुलभ उपायों को जानने वाला यह उत्पन्न हुआ है ॥ ६८ ॥

विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थस्तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम् ।
जगत्ययं मोहमतो निहन्तुं ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः ॥ ६९ ॥

विषयों से अनासक्त होकर राज्य त्याग देगा, तीव्र प्रयत्नों से तत्त्व प्राप्त करके संसार में मोह रूप अंधकार को नष्ट करने के लिए यह ज्ञान रूप सूर्य प्रकाशित होगा ॥ ६९ ॥

दुःखार्णवाद् व्याधिविकीर्णफेनाज्जरातरङ्गान्मरणोग्रवेगात् ।
उत्तारयिष्यत्ययमुह्यमानमार्तं जगज्ज्ञानमहाप्लवेन ॥ ७० ॥

व्याधि रूप फेन से व्याप्त, जरा रूप तरंग वाला मृत्यु रूप तीव्र वेगवान् दुःख समुद्र से बहते हुए पीड़ित संसार को यह ज्ञानरूप विशाल नौका के द्वारा पार उतारेगा ॥ ७० ॥

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम् ।
अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः ॥ ७१ ॥

यह, प्रज्ञा रूप जलप्रवाह वाली, अचल शील रूप तट वाली, समाधि रूप शीतलता युक्त व्रतरूप चक्रवाक (पक्षी) से व्याप्त उत्तम धर्म नदी बहायेगा तथा तृष्णा रूप प्यास से व्याकुल संसारी जीव उस नदी का जल पीयेंगे ॥ ७१ ॥

दुःखार्दितेभ्यो विषयावृतेभ्यः संसारकान्तारपथस्थितेभ्यः ।
आख्यास्यति ह्येष विमोक्षमार्गं मार्गप्रनष्टेभ्य इवाध्वरेभ्यः ॥ ७२ ॥

विषयों से लिप्त दुःखों से पीड़ित संसार रूप जंगली पथ के पथिकों को यह मोक्ष-मार्ग बतावेगा, जैसे मार्ग से भटके हुए पथिकों को बताया जाता है ॥ ७२ ॥

विदह्यमानाय जनाय लोके रागाग्निनायं विषयेन्धनेन ।
प्रह्लादमाधास्यति धर्मवृष्ट्या वृष्ट्या महामेघ इवातपान्ते ॥ ७३ ॥

यह, संसार में विषय रूप लकड़ी वाली राग रूप अग्नि से जल रहे लोगों को धर्म की वर्षा करके शीतल करेगा जैसे ग्रीष्मावसान में महामेघ जल वर्षा कर जगत को शीतल कर देता है ॥ ७३ ॥

तृष्णार्गलं मोहतमःकपाटं द्वारं प्रजानामपयानहेतोः ।
विपाटयिष्यत्ययमुत्तमेन सद्धर्मताडेन दुरासदेन ॥ ७४ ॥

यह, प्रजाओं के निकलने (मोक्ष) के लिये तृष्णा रूप अर्गला वाले मोहान्धकार रूप दरवाजे को उत्तम दुर्धर्ष धर्म के प्रहार से फाड़ डालेगा ॥ ७४ ॥

स्वैर्मोहपाशैः परिवेष्टितस्य दुःखाभिभूतस्य निराश्रयस्य ।
लोकस्य संबुध्य च धर्मराजः करिष्यते बन्धनमोक्षमेषः ॥ ७५ ॥

यह धर्म का राजा होगा एवं बुद्धत्व प्राप्त करके अपने मोह-पाश से बँधे हुए, दुःख से पीड़ित आश्रयहीन जगत् का बन्धन खोलेगा ॥ ७५ ॥

तन्मा कृथाः शोकमिमं प्रति त्वमस्मिन्स शोच्योऽस्ति मनुष्यलोके ।
मोहेन वा कामसुखैर्मदाद्वा यो नैष्ठिकं श्रोष्यति नास्य धर्मम् ॥७६॥

अतः आप इसके लिये शोक न करें, इस मनुष्य-लोक में वह सोचने योग्य होगा जो मोह से या विषय सुख की आसक्ति से अथवा मद के कारण इसका नैष्ठिक धर्म नहीं सुनेगा ॥ ७६ ॥

भ्रष्टस्य तस्माच्च गुणादतो मे ध्यानानि लब्ध्वाप्यकृतार्थ एव ।
धर्मस्य तस्याश्रवणादहं हि मन्ये विपत्तिं त्रिदिवेऽपि वासम् ॥७७॥

और मैं इस गुण (इसके धर्म) से भ्रष्ट (वंचित) रह जाऊँगा, अतः ध्यान (योग) को प्राप्त करके भी मैं अकृतार्थ ही रहा क्योंकि उस (नैष्ठिक) धर्म को न सुनने के कारण स्वर्गवास को भी मैं विपत्ति मानता हूँ ॥ ७७ ॥

इति श्रुतार्थः ससुहृत्सदारस्त्यक्त्वा विषादं मुमुदे नरेन्द्रः ।
एवं विधोऽयं तनयो ममेति मेने स हि स्वामपि सारवत्ताम् ॥ ७८ ॥

राजा, इस प्रकार अर्थ (बातें) सुनकर मित्रों एवं पत्नियों सहित दुःख छोड़कर आनन्दित हुआ। मेरा यह पुत्र ऐसा है ?—यह विचार कर अपने को सौभाग्यवान् माना ॥ ७८ ॥

आर्षेण मार्गेण तु यास्यतीति चिन्ताविधेयं हृदयं चकार ।
न खल्वसौ न प्रियधर्मपक्षः संताननाशात्तु भयं ददर्श ॥ ७९ ॥

'यह ऋषियों के मार्ग पर चलेगा'—इससे उसे हृदय में चिन्ता हुई। वह धर्मप्रिय नहीं था - ऐसी बात नहीं है (अपितु) उसने सन्तति-विच्छेद का भय देखा ॥ ७९ ॥

अथ मुनिरसितो निवेद्य तत्त्वं सुतनियतं सुतविक्लवाय राज्ञे ।
सबहुमतमुदीक्ष्यमाणरूपः पवनपथेन यथागतं जगाम ॥ ८० ॥

तब असित मुनि, पुत्र के सम्बन्ध में व्याकुल राजा से पुत्र के नियत (अवश्यम्भावी) तत्त्व बताकर, लोगों के द्वारा सम्मानपूर्वक देखते ही देखते वायु मार्ग से जैसे आये थे वैसे ही चले गये ॥ ८० ॥

कृतमतिरनुजासुतं च दृष्ट्वा मुनिवचनश्रवणे च तन्मतौ च ।
बहुविधमनुकम्पया स साधुः प्रियसुतवद्विनियोजयांचकार ॥ ८१ ॥

कृतार्थ बुद्धि उस साधु (असित) ने अपनी बहिन के पुत्र (भांजे) को देखकर अत्यधिक अनुकम्पा से मुनि (बुद्ध) के वचन सुनने तथा उसके मत में चलने के लिये प्रिय पुत्र के समान अनुशासित किया ॥ ८१ ॥

नरपतिरपि पुत्रजन्मतुष्टो विषयगतानि विमुच्य बन्धनानि ।
कुलसदृशमचीकरद्यथावत् प्रियतनयस्तनयस्य जातकर्म ॥ ८२ ॥

राजा ने भी पुत्र-जन्म की खुशी में राज्य के सभी बन्धनों (कैदियों) को छोड़ दिया और उस प्रिय-पुत्र ने अपने पुत्र का कुल के अनुसार जात-कर्म संस्कार करवाया ॥ ८२ ॥

दशसु परिणतेष्वहःसु चैव प्रयतमनाः परया मुदा परीतः ।
अकुरुत जपहोममंगलाद्याः परमभवाय सुतस्य देवतेज्याः ॥ ८३ ॥

परम आनन्द से विभोर होकर उस प्रयत्नशील ने दस दिन बीतने पर

पुत्र के परम कल्याण के लिये जप, होम, मङ्गल आदि कर्म के द्वारा देव यज्ञ किया ॥ ८३ ॥

अपि च शतसहस्रपूर्णसंख्याः स्थिरबलवत्तनयाः सहेमशृङ्गीः ।
अनुपगतजराः पयस्विनीर्गाः स्वयमददात्सुतवृद्धये द्विजेभ्यः ॥ ८४ ॥

तथा जो बूढ़ी नहीं थी, जिनके बछड़े पुष्ट एवं बलवान थे एवं सींगें स्वर्ण से मढ़ी थीं ऐसी दूध देनेवाली एक लाख गायें पुत्र की उन्नति के लिये ब्राह्मणों को दीं ॥ ८४ ॥

बहुविधविषयास्ततो यतात्मा स्वहृदयतोषकरीः क्रिया विधाय ।
गुणवति नियते शिवे मुहूर्ते मतिमकरोन्मुदितः पुरप्रवेशे ॥ ८५ ॥

प्रसन्नचित्त उस जितेन्द्रिय ने हृदय को संतुष्ट करने वाली अनेक प्रकार की क्रियाएँ करके शास्त्र-विहित गुणयुक्त मङ्गलमय मुहूर्त में वहाँ से नगर में प्रवेश करने का विचार किया ॥ ८५ ॥

द्विरदरदमयीमथो महार्हां सितसितपुष्पभृतां मणिप्रदीपाम् ।
अभजत शिविकां शिवाय देवी तनयवती प्रणिपत्य देवताभ्यः ॥ ८६ ॥

इसके वाद पुत्रवती देवी मङ्गलाचरण के लिये देवताओं को प्रणाम करके हाथी-दाँत से निर्मित एवं उज्ज्वल सफेद फूलों से सुसज्जित मणि-प्रदीपों से युक्त बहुमूल्य पालकी पर चढ़ी ॥ ८६ ॥

पुरमथ पुरतः प्रवेश्य पत्नीं स्थविरजनानुगतामपत्यनाथाम् ।
नृपतिरपि जगाम पौरसंघैर्दिवममरैर्मघवानिवार्च्यमानः ॥ ८७ ॥

तब वृद्धजनों से अनुगत एवं पुत्र के साथ पत्नी को पहिले नगर प्रवेश कराकर राजा भी, जैसे देवताओं द्वारा सम्मानित होते हुए इन्द्र, देवलोक में प्रवेश करता है, वैसे ही पुरवासियों द्वारा सम्मानित हो, नरग में गया ॥ ८७ ॥

भवनमथ विगाह्य शाक्यराजो भव इव षण्मुखजन्मना प्रतीतः ।
इदमिदमिति हर्षपूर्णवक्त्रो बहुविधपुष्टियशस्करं व्यधत्त ॥ ८८ ॥

तब भवन में प्रवेश करके शाक्यराज, कार्त्तिकेय के जन्म से शिव के समान, प्रफुल्लित हुआ एवं प्रसन्नमुख से 'यह करो', 'वह करो' कहते हुए (पुत्र के) पुष्टिकारक और यशस्कर कर्म उसने करवाये ॥ ८८ ॥

इति नरपतिपुत्रजन्मवृद्धया सजनपदं कपिलाह्वयं पुरं तत् ।
धनदपुरमिवाप्सरोऽवकीर्णं मुदितमभून्नलकूबरप्रसूती ॥ ८९ ॥

इति श्री अश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
भगवत्प्रसूतिर्नाम प्रथमः सर्गः ।

राजकुमार के समृद्धिकारी जन्म से जनपदों सहित कपिल नामक वह नगर इस प्रकार प्रमुदित हुआ जैसे नलकूबर के जन्म से अप्सराओं से पूर्ण कुबेर का नगर ॥ ८९ ॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में भगवान् का जन्म नामक
प्रथम सर्ग समाप्त हुआ

—:o:—

अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

अभिधावृत्तिमातृका । मुकलभट्टकृत । डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी

अभिलेखमाला । 'रमा' हिन्दी टीका सहित । व्याख्याकार—झा बन्धु

आधुनिक संस्कृत काव्यपरम्परा । डॉ० केशवराव मुसलगाँवकर

कादम्बरी । पं० रामतेज शास्त्रीकृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

(हिन्दी) आर्यासप्तशती । गोवर्धनाचार्य विरचित । संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार—पं. रमाकान्त त्रिपाठी

कादम्बरीकथासार । हिन्दी-अंग्रेजी व्याख्या सहित भूमिकादि सहित । सम्पा. एवं व्याख्याकार—डॉ. बलराम सदाशिव अग्निहोत्री

कालिदास-ग्रन्थावली । हिन्दी टीका सहित । पं. रामतेज पाण्डेय, सम्पादक—डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

नैषधीय चरितम् । 'नारायणी' संस्कृत टीका सम्पूर्ण

राजतरङ्गिणी (राजनीति) । कल्हण विरचित शोभना हिन्दी टीका सहित । व्याख्याकार**नैषधीय चरितम्** । 'नारायणी' संस्कृत टीका सम्पूर्णपं. रामतेज पाण्डेय

कौमुदीकथाकल्लोलिनी । (इस ग्रन्थ में सिद्धान्तकौमुदी के सन्धिप्रकरण से लेकर उत्तरकृदन्तपर्यन्त आए प्रायः सभी सूत्रों का उदाहरण देते हुये संस्कृत भाषा में रोचक कथाएँ प्रस्तुत की गयी हैं) प्रो. रामशरण शास्त्री

नवसाहसाङ्कचरितम् । परिमलपद्मगुप्त कृत । पं. जितेन्द्रचन्द्र शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या । विस्तृत भूमिका सहित ।

बघेलखण्ड के संस्कृत काव्य । डॉ. राजीवलोचन अग्निहोत्री

युधिष्ठिरविजयम् । महाकवि श्रीवासुदेवविरचित । 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार—प्रो. ब्रजेशचन्द्र श्रीवास्तव

राघवपाण्डवीयम् । कविराजपण्डितविरचित । सरस-सरल, विवेचनात्मक 'सुबोधिनी' 'सरला' संसकृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित । व्याख्या—पं. दामोदर झा

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

चौखम्बा इण्डोवेस्टर्न पब्लिशर्स
वाराणसी

IWP

www.indowesternpublishers.com email : cvbhawan@yahoo.co.in